

## अध्याय : पंचम

# शिक्षक एवं शिक्षालय के संकल्पना के सम्बन्ध में जे. कृष्णमूर्ति जी का विचार

### शिक्षक का स्वरूप

समग्र विद्यालयी वातावरण पर प्रभाव डालने व प्रेरणा देने वाला शिक्षक ही होता है। शिक्षक कैसा होना चाहिए? इसके उत्तर में कृष्ण-मूर्ति जी कहते हैं कि अध्यापक सहनशील, विनम्र, शांतचित्त निरन्तर सीखने वाला होना चाहिए। रविन्द्रनाथ टैगोर भी कहते हैं—

एक दीपक तब तक दूसरे दीपक को प्रज्वलित नहीं कर सकता, जब तक वह स्वयं प्रज्वलित न हो। हम किताबों की दुकानों में कागजी देवताओं की पूजा करते हैं परन्तु अध्यापक पृष्ठभूमि में लौट जाता है, अप्रकाशित रह जाता है शिक्षक कोई मशीन नहीं है वह एक मानव प्राणी है। विद्यार्थी को सदैव चौकन्ने मानवीय मन से अध्यापक की संगति करना चाहिए। टैगोर का मानना है कि—

“अध्यापक में अधिकार को बरतने की अथवा दंड देने की इच्छा ही सि( करता है कि वह अध्यापक है या नहीं।”

कृष्णमूर्ति जी के अनुसार सही शिक्षा शिक्षक से ही शुरू होती है। शिक्षक को स्वयं को समझकर विचार के बने-बनाए ढाँचों से मुक्त होना चाहिए, क्योंकि वह जो कुछ वह स्वयं होता है वही वह दूसरों को देता है। यदि वह स्वयं उचित रूप से शिक्षित नहीं हुआ है तो वह यह यांत्रिक ज्ञान के अतिरिक्त, जिसके आधार पर स्वयं उसका निर्माण हुआ है, दूसरों को क्या दे सकता है? अतः समस्या बच्चे नहीं बल्कि माता-पिता और शिक्षक हैं, समस्या शिक्षक को शिक्षित करने की है।

हम शिक्षक ही यदि स्वयं को गहराई से नहीं समझते तथा बच्चे के साथ अपने रिश्ते को ही मौलिक रूप से नहीं समझते और उसे केवल जानकारियों से भरने एवं परीक्षाएँ पास करवाने में लगे रहते हैं, तो हम कैसे एक नए ढंग की शिक्षा ला सकेंगे? विद्यार्थी को मार्गदर्शन की सहायता की जरूरत होती है, लेकिन अगर मार्गदर्शक या सहायक स्वयं भ्रांत हो, संकीर्ण हो, राष्ट्रवादी तथा मतांध हो तो स्वाभाविक है कि उसका शिष्य भी वैसा ही होगा। उस अवस्था में शिक्षा और भी भ्रांति एवं कलह का कारण बनेगी।

यदि हम इस बात की सत्यता को देख ले तो हमें यह अहसास होगा कि पहले खुद को उचित प्रकार से शिक्षित करने की चिंता करें फिर बच्चे के भविष्य के कल्याण की और उसकी सुरक्षा की चिंता से कही अधिक जरूरी है।

शिक्षक को शिक्षित करना अर्थात् उसे स्वयं को समझने के लिए तैयार करना सबसे कठिन काम है, क्योंकि हममें से ज्यादातर व्यक्ति किसी विचार-प्रणाली में या पहले ही ढाले जा चुके हैं, हमने पहले ही अपने का किसी विचारधारा या किसी धर्म या आचार-व्यवहार के किसी विशेष मापदंड के प्रति समर्पित कर दिया है। यही कारण है कि हम बच्चे को सिखाते हैं कि वह क्या सोचे, न कि वह कैसे सोचे।

जब कोई अध्यापक अध्यापन करने का निश्चय कर लेता है तो सबसे पहला प्रश्न, जो उसे अपने से करना चाहिए, वह है कि अध्यापन का ठीक-ठीक अर्थ क्या है? क्या वह सामान्य विषयों को पारम्परिक तरीके से पढ़ाने जा रहा है? क्या वह बच्चे का सामाजिक यंत्र का एक पुरजा बनाने के लिए संस्कारब( करना चाहता है या वह चाहता है कि एक समन्वित सृजनशील मनुष्य बनने में, मिथ्या मूल्यों के लिए एक खतरा बनने में, वह बच्चे के लिए सहायक हो? और यदि शिक्षक बच्चे की सहायता करना चाहता है कि वह उन मूल्यों और उनके प्रभावों को समझे तथा उनकी छान-बीन करे जो उसे चारों ओर से घेरे हुए है और जिनका वह एक अंग है, तो क्या आवश्यक नहीं कि शिक्षक स्वयं भी उनके

प्रति जागरूक हो? यदि कोई व्यक्ति अंधा है तो नदी के पार पहुंचने में वह दूसरे की कैसे सहायता कर सकता है

निःसंदेह यह आवश्यक है कि पहले अध्यापक स्वयं समझना आरम्भ करें। उसे निरन्तर सतर्क रहना चाहिए तथा स्वयं अपने विचारों और भावनाओं के प्रति अत्यन्त सजग रहना चाहिए, उसे उन तरीकों के प्रति जागरूक होना चाहिए जिनसे वह संस्कारब( है, उसे अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के प्रति जागरूक होना चाहिए। इसी सजगता से प्रज्ञा आती है और इसी से अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं के साथ उसके संबंध में मौलिक परिवर्तन हुआ है।

प्रज्ञा का परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने से कोई संबंध नहीं है। प्रज्ञा वह सहज प्रत्यक्ष दर्शन है। जो मनुष्य को शक्तिशाली एवं स्वतंत्र बनाती है। बच्चे में यदि इस प्रज्ञा को जगाना है तो वह आवश्यक है कि वह स्वयं भी समझे अपने ही अन्दर उस प्रज्ञा का अभाव रहेगा तो हम बच्चे को प्रज्ञावान विवेकपूर्ण होने के लिए कैसे कह सकते हैं? समस्या यहाँ केवल विद्यार्थी की कठिनाईयों की ही नहीं है बल्कि स्वयं अपनी भी है हमारे भीतर भी भय है जो निरन्तर संचित होते रहते हैं, हम भी दुःखों और कुंठाओं से व्यक्त नहीं है। प्रज्ञावान बनने में बच्चे की सहायता करने के लिए हमें अपने अन्दर की उन बाधाओं को तोड़ देना होगा जो हमें भेद और विचारहीन बनाती है।

जब हम स्वयं व्यक्तिगत सुरक्षा की खोज में लगे हैं तो हम बच्चों को कैसे इसकी शिक्षा दे सकते हैं कि वे खोज न करें? यदि अध्यापक ही जीवन के प्रति खुले नहीं है और यदि हम ही अपने चारों ओर सुरक्षात्मक दीवार खड़ी करेंगे तो फिर बच्चों के लिए क्या आशा की जा सकती है? सुरक्षा के लिए संघर्ष विश्व में चारों ओर बड़ी दुर्व्यवस्था पैदा कर रहा है और इस संघर्ष का सही अभिप्राय जानने के लिए यह आवश्यक है कि अपनी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के प्रति सजग होकर हम स्वयं अपनी प्रज्ञा को जगाए। हमें

उन सभी मूल्यों के विषय में प्रश्न उठना आरम्भ करना चाहिए जो आज हमें चारों ओर से घेरे हैं।

यह उचित नहीं है कि उसी ढांचे में बिना विचार के हम अपने को फिट करते रहें, जिसमें हम पले हैं। यह क्रम स्वयं को ही नहीं समझते तो कैसे कभी भी व्यक्ति में और इस प्रकार समाज में, सामंजस्य हो सकता है? जब तक शिक्षक अपने को नहीं समझता, जब तक वह स्वयं अपनी संस्कारब( प्रतिक्रियाओं को नहीं देखता और अपने को प्रचलित मूल्यों से मुक्त करना आरम्भ नहीं करता, तब तक वह कैसे बच्चे में प्रज्ञा जागृत कर सकता है? और यदि वह बच्चे में प्रज्ञा जाग्रत नहीं कर सकता तो फिर उसका कार्य ही क्या है? स्वयं अपने विचारों और भावनाओं की प्रतिक्रियाओं को समझकर ही हम एक स्वतंत्र मनुष्य बनने में बच्चे की वास्तविक सहायता कर सकते हैं, और यदि शिक्षक का इससे गहरा एवं जीवंत संबंध है, तो उसमें केवल बच्चे के प्रति ही नहीं अपने प्रति भी गहरी जागरूकता होगी।

हममें से बहुत कम ही लोग ऐसे हैं जो स्वयं अपने विचारों और भावनाओं का निरीक्षण करते हैं। यदि वे विचार एवं भावनाएं हमें कुरूप लगती हैं तो हम उनके पूरे तात्पर्य को समझने का प्रयत्न नहीं करते। हम या तो उन्हें केवल रोकने का प्रयत्न करते हैं या उनकी उपेक्षा कर देते हैं। हमें स्वयं उनकी गहरी सजगता नहीं है। हमारे विचार और हमारी भावनाएं घिसी-पिटी हैं, यंत्रवत हैं। हम कुछ विषय सीखते हैं, कुछ इकट्ठी करते हैं और फिर वहीं बच्चों तक पहुँचाते हैं।

यदि हमारी अभिरूचि जीवंत है तो हमें केवल इसका ही पता लगाने का प्रयास नहीं करेंगे कि विश्व के तमाम हिस्सों में शिक्षा के कौन से प्रयोग हो रहे हैं बल्कि शिक्षा की सम्पूर्ण समस्या के ही प्रति स्वयं अपने दृष्टिकोण को बहुत अधिक स्पष्ट करना चाहेंगे, हम अपने से यह प्रश्न करेंगे कि क्यों और किस उद्देश्य से हम बच्चों को तथा अपने आपको शिक्षित कर रहे हैं, हम अस्तित्व के अर्थ का, व्यक्ति के समाज के प्रति संबंध

का अन्वेषण करेंगे। निःसंदेह शिक्षकों को इन समस्याओं के प्रति जागरूक होना चाहिए और बच्चे के ऊपर अपनी व्यक्तिगत विचित्रताओं तथा विचार की आदतों का आरोपण किए बिना उन समस्याओं के सत्य की खोज में बच्चे की सहायता करनी चाहिए।

किसी भी व्यवस्था-प्रणाली के पीछे चलने से चाहे वह प्रणाली राजनीतिक हो या शैक्षिक-हमारी किसी भी सामाजिक समस्या का समाधान नहीं होगा। किसी समस्या को समझने के बजाय यह समझना कहीं ज्यादा जरूरी है कि उस समस्या को देखने का हमारा नजरिया क्या है।

यदि बच्चों को भय से मुक्त होना है चाहे वह भय अपने माता-पिता का हो या अपने परिवेश या ईश्वर का हो-तो शिक्षक को खुद भी कोई भय नहीं होना चाहिए लेकिन यही कठिनाई है, ऐसे अध्यापकों को खोजना, जो किसी प्रकार के भय के शिकार न हो आसान नहीं है। भय विचार को संकीर्ण कर देता है तथा कुछ भी नया करने की प्रवृत्ति को सीमित करता है और एक भयभीत अध्यापक भय-मुक्ति की अवस्था के गहरे अभिप्राय को नहीं समझा सकता। अच्छाई की तरह भय भी संक्रामक होता है। यदि शिक्षक खुद भी अन्दर ही अन्दर भयभीत है तो वह उस भय को अपने विद्यार्थियों में संप्रेषित कर देगा, हालांकि यह हो सकता है कि यह संक्रमण तुरन्त न दिखलाई दे।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि एक अध्यापक लोग क्या कहेंगे, इस बात से भयभीत है वह अपने भय की मूर्खता को समझता है और फिर भी उसके परे नहीं जा पाता। तो उसे क्या करना चाहिए? कम-से कम वह स्वयं अपने से भय को स्वीकार तो कर ही सकता है और अपनी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं को विद्यार्थियों को सामने रखकर तथा उनके विषय में उनसे खुली चर्चा करके भय के स्वरूप को समझने में उनकी सहायता कर सकता है। ईमानदारी तथा सच्चाई का यह दृष्टिकोण छात्रों को बड़ा प्रोत्साहित करेगा और वे भी अपने बीच और अपने अध्यापन के साथ उसी प्रकार से खुले और निश्छल बनेंगे।

बच्चे को स्वतंत्रता देने के लिए शिक्षक को स्वयं भी स्वतंत्रता के निहितार्थों के प्रति तथा उसके पूरे तात्पर्य के प्रति जागरूक होना चाहिए। किसी अन्य व्यक्ति का उदाहरण और किसी भी प्रकार का दबाव इस स्वतंत्रता को लाने में सहायक नहीं होते, पर केवल स्वतंत्रता में ही आत्म-अन्वेषणा तथा अंतदृष्टि संभव होता है।

बच्चे के ऊपर चारों ओर के लोगों तथा वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है, इन प्रभावों और उनके वास्तविक मूल्य को स्पष्ट करने में सही शिक्षक को बच्चे की सहायता करनी चाहिए। समाज एवं परम्परा की सत्ता के द्वारा सम्यक मूल्यों को नहीं खोजा जा सकता, केवल वैयक्तिक विचारशीलता ही उन्हें प्रकट कर सकती है।

यदि कोई व्यक्ति इसको गहराई से समझता है तो वर्तमान व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों के प्रति अंतदृष्टि जगाने में वह बिल्कुल शुरू से ही बच्चे को प्रोत्साहित करेगा उसका प्रोत्साहन किसी विशेष प्रकार के मूल्यों की खोज के लिए नहीं होगा बल्कि सभी वस्तुओं के वास्तविक जीवन-मूल्यों के प्रति होगा। वह उसकी निर्भय होने में सहायता करेगा, जिसका अर्थ है कि सभी प्रकार के अधिपत्य से मुक्ति अधिपत्य चाहे अध्यापक का हो या परिवार का या समाज का ताकि प्रेम और अच्छाई में वह एक व्यक्ति के रूप में खिल सके। इस प्रकार स्वतंत्रता की ओर बढ़ने में विद्यार्थी की सहायता करके शिक्षक स्वयं अपने जीवन-मूल्यों को भी बदल रहा है, वह भी 'मैं' और 'मेरा' से मुक्ति पाना शुरू कर रहा है, वह भी प्रेम और अच्छाई में खिल रहा है परस्पर शिक्षण की यह प्रक्रिया अध्यापक और छात्र के बीच एक बिल्कुल अलग ही संबंध पैदा करती है।

श्रीकृष्णमूर्ति किसी भी प्रकार का आधिपत्य या बाध्यता, स्वतंत्रता और प्रज्ञा के लिए बाधा है। सही शिक्षक में अधिकारिता का भाव नहीं होता, समाज में उसका प्रभुत्व नहीं होता, वह समाज के विधि-निषेधों और मान्यताओं से परे होता है। यदि हम बच्चे को इन बाधाओं से मुक्त करना चाहते हैं। उन बाधाओं से जिन्हें स्वयं उसने तथा उसके परिवेश ने पैदा किया है—तो बाध्यता और अधिपत्य के प्रत्येक रूप को समझना और समाप्त करना

होगा, परन्तु यदि शिक्षक स्वयं ही अपने पंगु बनाने वाली सभी प्रकार की अधिकारिता और सत्ता से मुक्त नहीं करता, तो ऐसा करना संभव नहीं है।

दूसरे का अनुसरण करना, चाहे वह कितना भी महान क्यों न हो, 'स्व' की प्रक्रिया की खोज में बाधक बनता है— सुख—सुविधा, सत्ता—अधिकारिता, तथा बाहर से मदद पाने की इच्छाओं के घेरे में मन कैद रहता है, तथा यूरोपिया या आदर्श लोक की कल्पना मन को स्वयं उसकी ही घेरने वाली प्रवृत्ति के प्रति पूर्णतया अनजान बनाए रखती है। पुरोहित राजनीतिक, वकील, सैनिक सभी हमारी सहायता के लिए तैयार रहते हैं, परन्तु ऐसी सहायता, प्रज्ञा और स्वतंत्रता को नष्ट करती है। जिस सहायता की हमें आवश्यकता है वह स्वयं हमसे बाहर कहीं नहीं है। हमें सहायता के लिए भिक्षा मांगने की जरूरत नहीं है। जब हम उस काम में नम्रता समर्पित हैं और दिन—प्रति—दिन लाने वाली परीक्षा की घड़ियों तथा घटनाओं को समझने के लिए तैयार रहते हैं, तो वह सहायता बिना हमारे यत्न किए ही आ जाती है।

जे० कृष्णमूर्ति जी के अनुसार एक सही शिक्षक बनने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक पुस्तकों और प्रयोगशालाओं से अपने को निरन्तर मुक्त करता रहे, उसे सदा इसकी सावधानी बरतनी चाहिए कि विद्यार्थी कहीं उसे उदाहरण आदर्श, प्रमाण न बना लें। जब अध्यापक अपने विद्यार्थियों की सहायता उसकी अपनी सफलता होती है, तब उसका शिक्षण आत्म—सातत्य का, अपने अहं को ही बनाए रखने का, एक बहाना होता है, और यह आत्मबोध तथा स्वतंत्रता के लिए हानिकारक है। सही अध्यापक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन बाधाओं के प्रति जागरूक हो, जिससे कि वह अपने विद्यार्थियों को केवल अपने ही प्रभुत्व से नहीं बल्कि उनके अपने आत्म—केन्द्रित प्रयासों से भी मुक्त कर सकें।

सच्चा शिक्षक वहीं है जो विद्यार्थी को सिखाने के लिए तत्काल उसी की मनोभूमि पर उतर आए अपनी आत्मा को अपने छात्र की आत्मा में एकरूप कर सके और जो छात्र की दृष्टि से देख सके, उसी के कानों से सुन सके तथा उसी के मस्तिष्क से समझ सके।

ऐसा ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है कोई दूसरी नहीं। विद्यार्थी के लिए आवश्यक है कि उसमें पवित्रता, सच्ची ज्ञान-पिपासा और अध्ययवसाय हो। तन-मन और वचन की शु(ता नितान्त आवश्यक है।

कृष्णमूर्ति जी को इस बात पर काफी आश्चर्य होता है कि वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, राजनीतिज्ञ बनाने के लिए कठिन प्रशिक्षणों और अभ्यास में तपाया जाता है जबकि एक अध्यापक बनने के लिए कोई खास प्रशिक्षण और अभ्यास की व्यवस्था नहीं की जाती है।

### **अध्यापक का दायित्व**

अध्यापक का यह पूर्ण दायित्व है कि वह सदैव ही अपने विद्यार्थियों की देखभाल उचित रूप में करे। उसे संवेदनशील, प्रज्ञावान, संमजनशाली बनाने में पूरा योगदान दे।

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि आजकल शिक्षकों की कोई मान-मर्यादा नहीं रह गयी है और न ही पूछ रह गयी है। न ही उसे समाज में सम्मान जनक नजर देखा जाता है, या यूँ कहें कि शिक्षक को आजकल लोग हेय दृष्टि से देखते हैं। समाज ने शिक्षक को न ही उचित अधिकार दिया और न शक्ति। वास्तव में देखा जाय तो सभी प्रकार से भय और सत्ता से मुक्त शिक्षक ही विद्यार्थी का प्रेणाश्रोत बन सकता है। उन्हें आत्म-अन्वेषण की प्रेरणा दे सकता है। स्वतंत्रता की ओर बढ़ने में छात्र की सहायता करके शिक्षक स्वयं अपने जीवन मूल्यों को बदल सकता है साथ ही वह भी "मैं" और "मेरे" से मुक्ति पाना शुरू कर देता है और प्रेम और अच्छाई में पुष्पित होने लगता है।

सही शिक्षक वह नहीं है जो अपने को सदैव पुस्तकों और प्रयोगशालाओं तक सीमित रखे, बल्कि सच्चा शिक्षक वह है जो बाल की समस्याओं को समझने तथा उससे निजात दिलाने में सहयोग प्रदान करता है। सच्चा शिक्षक वही है जो सदैव विद्यार्थी की स्वतंत्रता और समन्वय के लिए समर्पित रहता है। गहराई से देखा जाय तो वह एक धार्मिक व्यक्ति होता है।



कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि जिस व्यक्ति को अध्यापन करने की ज्वलंत या उत्कट अभिलाषा न हो उसे कदापि अध्यापक नहीं बनना चाहिए, क्योंकि प्रतिभा रहित व्यक्ति केवल जीविकापार्जन के लिए अध्यापन करता है, जो उचित नहीं है।

शिक्षक के कथनी और करनी में भेद नहीं होना चाहिए। गांधी जी ने भी कहा है :-

“उस अध्यापक को धिक्कार हे जो मुँह से तो कुछ पढ़ाता है और अपने हृदय में कुछ और रखता है।”

शिक्षक को विद्यार्थी के चरित्र निर्माण और आत्मिक उत्सर्ग के लिए पूरी तरह समर्पित रहना चाहिए। अध्यापक को सदैव ही क्रियाशील रहना चाहिए। अध्यापक

को सयोगी की भूमिका में ही रहना चाहिए।

### शिक्षक के कार्य

1. शिक्षक का कार्य छात्र को मुक्त और सर्जनशील बनाना है।
2. शिक्षक का कार्य है छात्र को समझने में मदद करना।
3. शिक्षक को चाहिए कि वह छात्र को एक बेहतर और उदात्त जीवन की ओर मार्गदर्शित करे।
4. मार्ग दर्शन के लिए आवश्यक है कि छात्र क्या जानता है? शिक्षक को छात्र की प्रतिभा को प्रतिबंधित करने वाले प्रभावों से उसे मुक्त करने में सहायता पहुँचानी चाहिए पर छात्र को ऐसा न लगे कि उस पर दबाव डाला जा रहा है।
5. स्वावलम्बन की प्रवृत्ति लाना शिक्षक का ही कार्य है।
6. शिक्षक का एक मात्र कार्य है अपने को प्रतिबंधित करने वाले आंतरिक और बाह्य प्रभावों को समझने में छात्र की सहायता करना।
7. शिक्षक को हर छात्र को एक व्यक्ति मानकर किसी दूसरे छात्र के साथ एक छात्र की तुलना नहीं करनी चाहिए।

8. शिक्षक सूचना व ज्ञान का वाहक नहीं है बल्कि विद्यार्थी में स्वतंत्रता जगाने और मुक्त प्रतिबन्धिता रही समाज के निर्माण में सहयोगी बनाना है।
9. विद्यार्थी में संवेदनशीलता और प्रज्ञा प्रस्फूर्तित करना शिक्षक का ही कार्य है।
10. शिक्षक को मुक्त और सर्जनशील बनने में सहायता करना—अपने को प्रतिबंधित करने वाले प्रभावों को समझने में उसकी मदद करना है।
11. उसे प्रयोजन रहित, भार रहित “स्व” को जागृत करने वाली जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करने वाली शिक्षा देने का कार्य शिक्षक का ही है।
12. शिक्षक को शिक्षार्थी में परावलम्बन के स्थान पर स्वावलम्बन की भावना विकसित करना चाहिए।
13. कुंठा, हताशा, भय से समाज और विद्यार्थी को मुक्त रखना शिक्षक का प्रमुख कार्य है एक बेहतर और उदार जीवन की ओर शिक्षक को विद्यार्थी को प्रेरित करना चाहिए।
14. यथार्थवादी दृष्टिकोण को उत्पन्न करने में शिक्षक को सहायता देना चाहिए।
15. नूतन विश्व के निर्माण में विद्यार्थियों को आगे आने के लिए शिक्षक को प्रेरित करना चाहिए।

### शिक्षालय का स्वरूप

सम्पूर्ण और समन्वित व्यक्तित्वान व्यक्ति पैदा करना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है, न कि मात्र व्यक्ति और विद्यार्थी को अत्याधुनिक और तकनीकी संस्थानों को मुहैया कराके इस योग्य बना देता है, जिससे वे अपनी रोजी—रोटी सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समुचित विकास बड़े—बड़े भीड़—भाड़ युक्त विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में नहीं होगा। विद्यालय के छोटे स्वरूप का समर्थन करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

‘आशा मात्र समन्वित व्यक्ति से ही की जा सकती है और उन्हें पैदा करने में छोटे विद्यालय ही सहायक सि( हो सकते हैं। यही कारण है कि बड़ी शिक्षण संस्थाओं में आधुनिकतम और श्रेष्ठतम शिक्षा प(तियों के प्रयोग के स्थान पर सीमित संख्या में बालक और बालिकाओं वाले ऐसे विद्यालय होना, अधिक श्रेयस्कर है, जिनमें उचित प्रकार के शिक्षक अध्यापन कार्य करते हों।’

शिक्षालय कैसा होना चाहिए? क्या बड़े-बड़े विद्यालय और विश्वविद्यालय हों जिनमें सभी प्रकार प्रकार की आधुनिक सुविधाएं मौजूद हों? क्या विद्यालय का कार्य अपने विद्यार्थियों को तकनीकी, चिकित्सकीय और व्यावसायिक कला में दक्ष करना है। इस तमाम प्रश्नों को उठाते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं- व्यक्ति के व्यक्तित्व के समन्वित व सम्पूर्ण पक्ष को उजागर करने में जो विद्यालय सहायक हों वही असली विद्यालय होंगे। इसके लिए बड़ी-बड़ी शिक्षण संस्थायें नहीं वरन् छोटे-छोटे विद्यालय ही होने चाहिए। जहाँ पर प्रत्येक बालक-बालिकाओं के ऊपर शिक्षक का पूरा ध्यान रहता है। ऐसे ही विद्यालय व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होंगे।

कुछ शिक्षा दार्शनिकों के द्वारा विद्यालय या शिक्षालय की अवधारणा इस प्रकार है-

जान ड्यूवी-‘स्कूल एक ऐसा विशिष्ट वातावरण है जहाँ बालक के वांछित विकास की दृष्टि से विशिष्ट क्रियाओं तथा व्यवसायों की शिक्षा दी जाती है।

जैकसन : के अनुसार, ‘विद्यालय वह स्थान है जहाँ परीक्षणों से सफल या असफल हुआ होता है, जहाँ अनेक मनोरंजन घटनाएं घटित होती है, जहाँ बालक नई अन्तर्दृष्टि तथा क्षमताएँ प्राप्त करते हैं। यह वह स्थान भी है जहाँ बालक बैठकर सुनने, प्रतीक्षा करते हैं और अपने हाथ उठाते हैं, कागज एक-दूसरे को हस्तान्तरित करते हैं, पंक्तिब( खड़े होते हैं तथा अपनी पेन्सिल तेज करते हैं। वास्तव में विद्यालय वह स्थान है जहाँ मित्र

तथा शत दोनों बनते हैं, जहाँ कल्पना का विकास होता है व गलतफहमियाँ द्वारा होती है, जहाँ छात्र जमुहाइयाँ लेते हैं, मेज पर अपने नाम खोदते है, जहाँ दूध के पिलाने के नाम पर पैसा बटोरा जाता है और अवकाश के अवसर दूढ़े जाते हैं।

रास के अनुसार—विद्यालय वे संस्थाएँ हैं जिनको सभ्य मनुष्यों ने इस उद्देश्य से स्थापित किया है कि समाज में व्यवस्थित तथा योग्य सदस्यता के लिए बालकों को तैयार करने में सहायता मिले।”

लेकिन कृष्णमूर्तिजी के अनुसार लोगों को ऐसे शिक्षालयों का निर्माण करना चाहिए जिसमें समन्वित और सम्यक बुद्धि से बालक के पूर्ण विकास के लिए सहायक सिद्ध हो सकें। ऐसे विद्यालय ही बालकों के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान ले सकते हैं। इस प्रकार के शिक्षालय को शुरू करने के लिए अनावश्यक संसाधन जुटाने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। उत्साही व्यक्ति चाहे तो अपने घर पर ही छोटा—मोटा विद्यालय खोलकर बालक—बालिकाओं के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक बनकर सच्चा अध्यापक बन सकता है। उसे उचित अवसरों की कमी नहीं होगी।

विद्यालय की अवधारणा की चर्चा हम दो रूपों में कर सकते हैं—;1द्व विद्यालय का परम्परागत सम्बोध, ;2द्व विद्यालय का आधुनिक सम्बोध।

विद्यालय का परम्परागत सम्बोध विद्यालय को ज्ञान प्रदान करने के लिए एक साधन के रूप में देखते हैं। इनकी मान्यता है कि विद्यालय में ज्ञान का क्रय व विक्रय होता है। अध्यापक ज्ञान को बेचते हैं व बालक ज्ञान खरीदते हैं। यह विचारधारा शिक्षा की प्रक्रिया को नीरस व निर्जीव बनाती है एवं स्कूल के वातावरण को भी कृत्रिम बनाकर वास्तविकता से दूर ले जाती है। इन विद्यालय में ज्ञान को प्रदान करने का तरीका अमनोवैज्ञानिक होता था चूँकि बालक की रुचि योग्यता व क्षमताओं पर वह ध्यान नहीं देते थे। इन स्कूलों के सम्बन्ध में 'पैस्टालाजी' का विचार है 'हमारे मनोवैज्ञानिक विद्यालय आज बालक की प्रकृति के द्वारा प्राप्त शक्ति एवं अनुभवों को विकसित करने के मार्ग में एक बाधक यंत्र बन रहे

हैं जिनके द्वारा बालक की अनियंत्रित स्वतंत्रता का हनन होता है, साथ ही यह बालक को भेड़ के समान समझते हैं और अस्वाभाविक व अरोचक शिक्षा देने हेतु उन्हें घंटों, दिनों, महीनों व सालों बांधकर रखते हैं।

विद्यालय की आधुनिक अवधारणा के अन्तर्गत समाज विद्यालय से कुछ अधिक अपेक्षाएँ करता है। अब विद्यालय सूचना तथा ज्ञान प्रदान करने वाले केन्द्र नहीं रहे हैं आज शिक्षालय का उद्देश्य लोक लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली के लिए एक व सफल नागरिक का निर्माण करना भी है। शिक्षालय की यह अवधारणा मनोवैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित है जो यह मानती है कि शिक्षा बालक के लिए बालक शिक्षा के लिए नहीं ;मकनबंजपवद पे वित बीपसकए बीपसक पे दवज वित मकनबंजपवदद्ध इसी कारण यह शिक्षालय के प्रारूप को बालक की रुचि, योग्यता व क्षमताओं पर आधारित करने की बात करते हैं। के0जी0 सैय्यदन—आज के आधुनिक विद्यालय सूचना के स्थान पर अनुभव ही बालक की विषयवस्तु होती है जिसके परिणामस्वरूप विद्यालय जीतने सक्रिय व सार्थक हो गया है।

कृष्णमूर्ति जी के अनुसार विद्यालय में प्राचार्य/प्रधानाचार्य किसी विद्यालय के लिए प्रकाश स्तम्भ के सदृश्य है उसी के प्रकाश में विद्यालय का सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न होता है। प्रधानाचार्य ही विद्यालय को प्रगति पथ पर ले जा सकता है लेकिन यह बात भी सत्य है कि किसी एक व्यक्ति के उत्साह और प्रयास से विद्यालय के प्रगति की बात सोचना व्यर्थ है। इसके लिए तो समस्त सहयोगियों के उत्साह की जरूरत है।

सही प्रकार के विद्यालय में हर तरह की भ्रांतियां को दूर रखना चाहिए जैसे बात—बात पर लोगों के बीच नजरिये में मतभेद होने के कारण भांति पैदा होना आम है किन्तु इसे मिल—बैठकर दूर कर लेना चाहिए।

आपके अनुसार विद्यालयीय समस्याओं को ध्यान में रखकर समय—समय पर विद्यालयीय समस्याओं को ध्यान में रखकर समय—समय पर विद्यालयीय बैठकों का आयोजन

समस्याओं के निराकरण के लिए होना चाहिए। सही ढंग के विद्यालय में सारे अध्यापकों के बीच अथक सहयोग जरूरी है। सारे स्टाफ की यथा संभव बैठके हो, ताकि विद्यालय की अलग-अलग समस्याओं पर बैठके हो, और जब किसी कार्य को करने के लिए सबकी सहमति हो, तब उसे पूरा करने में साफ तौर पर कोई दिक्कत नहीं आनी चाहिए।

जो कार्यक्रम की रूपरेखा बनायी जाय उसे अमली-जामा पहनाने में किसी प्रकार का मतभेद कत्तई नहीं होना चाहिए।

इसके लिए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :-किसी अध्यापक को प्रधानाचार्य से कदापि नहीं डरना चाहिए और न प्रधानाचार्य को वरिष्ठ अध्यापकों से भयभीत होना चाहिए।

एक सही प्रकार के विद्यालयों में समानता की भावना का होना निहायत जरूरी है क्योंकि परस्पर सहयोग तभी होगा जब श्रेष्ठता और अधीनता की भावना का अस्तित्व न होगा।

कृष्णमूर्ति जी कहना है कि भूमिकाओं में संघर्ष के कारण तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के कारण सहयोगियों के बीच मतभेद हो जाता है।

कृष्णमूर्ति जी कहते हैं शिक्षालयों में गुरु रूप में कोई ऐसा नेता नहीं होना चाहिए जो मार्गदर्शन करे समझावे या अपना प्रभुत्व बनाये रखे। यह प्राचीन गुरुकुलों जैसा होना चाहिए जहाँ शिक्षा स्वयं सत्य की अभिव्यक्ति है जिससे गंभीर लोगों को स्वतः अपने लिए पाना चाहिए। इसमें व्यक्ति निष्ठा के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

शिक्षालय सीखने के लिए एक स्थान है जहाँ उस प्रज्ञा की जागरण की अपेक्षा जो करुणा और प्रेम के साथ आती है जो करुणा और प्रेम के साथ आती है।

यह भ्रान्ति, द्वन्द, विनाश वाली दुनिया के लिए अखण्डता और सत्यनिष्ठा रहती है। यहाँ लोगों में सजगता और अवधान तथा स्नेह के दर्शन होते हैं।

शिक्षा सत्यान्वेषण है-सत्य, मौन में होता है-निःशब्दता में होता है-निःशब्द होकर सुनने में शिक्षालय के सम्बन्ध में विद्वान शिक्षा दार्शनिक 'थाम्पसन' के विचार हैं कि

शिक्षालय के द्वारा छात्रों की बौद्धिक क्षमता का विकास होना चाहिए अर्थात् शिक्षालय का प्रमुख उद्देश्य है छात्र के ज्ञान में अभिवृद्धि करना। ज्ञानात्मक अभिवृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय में छात्रों के तर्क, चिन्तन निर्णय व कल्पना शक्ति का विकास किया जाये। बालक के चरित्र का विकास करना। बालक के लिए क्या अच्छा है क्या बुरा, क्या अनुचित है एवं क्या उचित, यह ज्ञान उसे विद्यालय के वातावरण मिलना चाहिए एवं इन बातों का ज्ञान कराकर उसे चारित्रिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। शिक्षालय का कार्य है सामुदायिक भावना का विकास। भारतवर्ष के लिये इस भावना का विकास होना परमावश्यक चूँकि भारत विभिन्नताओं का देश है। इस देश में विभिन्न सम्प्रदाय, जाति, भाषा व प्रान्त के व्यक्तियों के मध्य एकीकरण की भावना स्थापित करना विद्यालय का प्रमुख दायित्व है साथ ही विद्यालय का सम्पूर्ण जीवन इस प्रकार का होना चाहिए जो छात्रों के अन्दर वांछनीय सामाजिक गुणों को उत्पन्न कर सके।

अतः थॉम्पसन जी कृष्णमूर्ति के विचारों के पक्षधर थे। कृष्णमूर्ति जी ने कहा एक सच्चा अध्यापक वह नहीं है जिसने एक प्रभावशाली शिक्षण संस्थान का निर्माण किया है या जो राजनीतिज्ञों के हाथ का एक उपकरण है, और न तो वह जो किसी आदर्श, विश्वास या देश से बंधा है सच्चा अध्यापक अन्दर से समृद्ध है, अतः अपने लिए कुछ नहीं चाहता। वह महात्वाकांक्षी नहीं होता, इसलिए वह किसी भी रूप में सत्ता की चाहत नहीं करता। वह अपने अध्यापक को पद या सत्ताधिकार प्राप्त करने का साधन नहीं बनाता और इसलिए समाज की बाध्यता से तथा सराकरों के नियंत्रण से वह मुक्त होता है। प्रबुद्ध सभ्यता में ऐसे अध्यापकों का प्राथमिक स्थान होता है, क्योंकि सच्ची संस्कृति इंजीनियरों और टेक्नीशियनों पर नहीं बल्कि शिक्षकों पर आधारित होती है। शिक्षालयों की उन्नति में इस तरह के शिक्षकों की ही आवश्यकता है।

**शिक्षा और अनुशासन**

शिक्षण संस्थाओं में अनुशासन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अनुशासन शब्द अनेक प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट करके उसका गलत ढंग से उपयोग किया जाता रहा है। सामान्यतया अनुशासन का अर्थ मन को एक विशेष ढाँचे के रूप में बनाने मन पर नियंत्रण करने, किसी नीति के अनुरूप चलने, एक विशेष प्रकार से सोचने इत्यादि के अर्थ में किया जाता है। परन्तु वास्तविक अनुशासन का अर्थ होता है—अपने मन एवं हृदय के सहयोग से मित्रवत एवं स्नेहपूर्ण अवस्था में सीखना। अनुशासन विद्यार्थियों एवं शिक्षक के बीच एक अवस्था एवं संबंध है अनुशासन की व्याख्या करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

“अनुशासन शिष्यत्व से जुड़ा है क्योंकि अनुशासन का संबंध सीखने से है अनुशासन का संबंध सीखने से है अनुशासन का अर्थ किसी चीज का अनुकरण करना नहीं है या विद्रोह करना नहीं है, बल्कि अनुशासन का अर्थ अपनी प्रतिक्रियाओं, पृष्ठभूमि और इनकी सीमाओं के बारे में सीखना और इनके पार चले जाना।

कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि अनुशासन वस्तुतः नियंत्रण या दमन नहीं है। सीखने में जो चीज अंतर्निहित है वह है होश और सजगता—अर्थात् उद्यम से भरा होना। केवल लापरवाह मन ही कभी भी सीखने की स्थिति में नहीं होता। जब मन छिछला, असावधान और उदासीन होता है तो किसी चीज को स्वीकार करने के लिए यह अपने साथ जबरदस्ती करता है। एक उद्यमी मन सक्रियतापूर्वक निरीक्षण एवं अवलोकन करता है और यह कभी उधार मूल्यों और विश्वासों में नहीं डुबता। वह मन जो सीख रहा है—एक मुक्त और स्वतंत्र मन है और स्वतंत्रता से सीखने का उत्तरदायित्व आवश्यक है। वह मन जो अपने दृढधर्म में उलझा हुआ है, किसी ज्ञान से घिरा हुआ है, ऐसा मन स्वतंत्रता की मांग करता है लेकिन स्वतंत्रता की मांग करता है लेकिन स्वतंत्रता से इसका तात्पर्य है, व्यक्तिगत विचारों एवं निष्कर्षों की अभिव्यक्ति और जब इसमें कोई बाधा आ जाती है, तो यह आत्म-परितुष्टि के लिए चीख-पुकार मचाने लगता है। स्वतंत्रता और मुक्ति के पास परितुष्टि को बोध नहीं होता यह स्वतंत्र और मुक्त है।



## कुछ दार्शनिकों के अनुसार अनुशासन की परिभाषा

जान ड्यूवी—के विचार के अनुसार अनुशासन एक मानसिक अभिवृत्ति है जिसको बनाये रखने के लिए सामाजीकृत क्रियाये आवश्यक है। उनके अनुसार खेल व क्रिया को सम्मिलित किया जाना चाहिए अनुसार अनुशासन आन्तरिक होना चाहिए। आत्म—नियंत्रण द्वारा बालकों में सद्चरित्र का विकास किया जाना चाहिए। ड्यूवी का यह भी विचार है कि यदि विद्यालय का सम्पूर्ण वातावरण बालकों की रुचि के अनुसार होना तो अनुशासनहीनता की समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती है। जान ड्यूवी प्रयोजनवादी दार्शनिक हैं। इनके विचारों से कृष्णमूर्ति जी भी सहमत थे।

महात्मा गांधी जी के अनुसार अनुशासन सम्बन्धी विचार—गांधी जी ने अपना जीवन पूर्णतया अनुशासित रूप से व्यतीत किया। अतः उन्होंने छात्र जीवन में भी अनुशासन के महत्व को स्वीकार किया है। परन्तु वह दमनात्मक अनुशासन या शारीरिक दण्ड के रूप में अनुशासन के विरोधी थे। उन्हाहोंने प्रभावात्मक तथा मुक्तयात्मक अनुशासन के मिश्रित स्वरूप के पक्ष में विचार व्यक्त किये। वैसे गांधी जी का विचार था कि थोपा हुआ अनुशासन क्षणिक होता है। अच्छा है यदि अनुशासन आत्म के ऊपर आधारित हो साथ ही छात्रों को अनुशासन में लाने हेतु यह भी आवश्यक है कि आध्यापक या व्यवहार संयमित व अनुशासित होना चाहिए।

रविन्द्रनाथ टैगोर—के अनुसार अनुशासन का सम्बन्ध बालक के स्वतंत्र विकास पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, यह अनुशासन कोई बाहर से थोपी गई वस्तु नहीं है, वरन यह आन्तरिक और स्वाभाविक प्रक्रिया है। वह बालक के नैतिक विकास के लिए अनुशासन को अनिवार्य मानते थे। परन्तु यह अनुशासन का तात्पर्य है कि “निम्नस्तरीय आवेगों की अस्वस्थ उत्तेजना और अनुचित दिशाओं में विकास से सुरक्षा करना, अस्वाभाविक अनुशासन की स्थिति रहना छोटे बच्चों के लिए सुखदायक है। यह उनके पूर्ण विकास में सहायक होता है।” परन्तु दण्ड या पुरस्कार से अनुशासन स्थापित करना उन्हें कतई मंजूर

न था। वह मानते थे कि अपराध करना तो बालक की स्वाभाविक प्रकृति है और उसे क्षमा करना शिक्षक का धर्म है।

श्री अरविन्द जी के अनुसार, अनुशासन—श्री अरविन्द जी शिक्षा जीवन एवं अनुशासन को पारस्परिक सम्बन्धित मानते थे। वह दमनात्मक अनुशासन की अपेक्षा प्रभावोत्पन्न अनुशासन को अच्छा मानते थे। वह योग की साधना द्वारा अनुशासन की अपेक्षा प्रभावोत्पन्न अनुशासन को अच्छा मानते थे। वह योग की साधना द्वारा अनुशासन की स्थापना करना चाहते थे। इसके लिए वे मनसा वाचा कर्मणा से ब्रह्मचर्य के पालन पर बल देते थे। वह इस बात पर बल देते थे कि अनुशासन का सम्बन्ध भावना से होता है, यह भावना का सम्बन्ध नैतिकता से, इस कारण यदि हम छात्रों में अनुशासन की भावना लाना चाहते हैं तो उनमें नैतिकता का उचित विकास करें। अनुशासन के लिए आत्मनियंत्रण भी जरूरी है वह कहते हैं, 'ज्ञान पिपासा, आत्मज्ञान पवित्रता साहस सुझाव सज्जनता, वीरता और देशभक्ति आदि का पालन करना ही वास्तविक अनुशासन है।

कृष्णमूर्ति जी के विचार इन सभी दार्शनिक से मेल खाते हैं। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि स्वतंत्रता बिना व्यवस्था के नहीं आ सकती। अनुशासन आजकल विभिन्न अर्थों से लदा हुआ है। अनुशासन का अर्थ है अनुकूलन, अनुकृति, आज्ञा पालन है। इसका यह अर्थ भी है कि जो तुम्हें बताया जाता है वह करो क्या ऐसा नहीं है? परन्तु आप यदि स्वतंत्र होना चाहते हैं और प्रत्येक मनुष्य को पूर्णतः स्वतंत्र होना ही चाहिए, अन्यथा वह पुष्पित नहीं हो पायेंगे, पूर्ण नहीं बन सकते, तो आपको स्वयं अपने लिए पता लगाना होगा कि व्यवस्थित होने का क्या तात्पर्य है? समय का पालन, दयालुता का, निर्भयता का क्या तात्पर्य है।' इन सबकी खोज ही अनुशासन है। अनुशासन से व्यवस्था आती है व्यवस्था से स्वतंत्रता का जन्म होता है और स्वतंत्र में अच्छाई, प्रेम और प्रज्ञा का प्रस्फुटन होता है। स्वतंत्रता में ही पक्षी उड़ सकता है, बीज अंकुरित होता है, मनुष्य प्रज्ञा को उत्पन्न होता है अर्थात् स्वतंत्रता ही जीवन है।

